

वैश्वीकरण एवं दलित : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन नेहा निरंजन

सहायक प्राध्यापक,
राजनीति विज्ञान एवं लोकप्रशासन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि. सागर (म.प्र.)

सारांश : वैश्वीकरण, वर्तमान पूँजीवादी राजनीतिक व्यवस्था की एक ऐसी अवधारणा है जिसने मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया है। पूँजीवाद के समर्थक जहाँ इसे विकास के लिए आवश्यक मानते हैं वहीं इसके आलोचकों ने इसे आर्थिक असमानता, सामाजिक विखंडन, अपराधीकरण आदि का कारण माना है ऐसे में दलित वर्ग, जो प्रारंभ से ही समाज में शोषित और हाशिये पर रहा है। उस पर वैश्वीकरण का क्या प्रभाव रहा है? वैश्वीकरण अर्थात् विश्व के एकीकरण के बाद भी इस वर्ग की स्थिति में सुधार हुआ है या नहीं इस बात का विश्लेषण इस शोध-पत्र में करने का प्रयास किया गया है। उनकी स्थिति में वैश्वीकरण के बाद भी सुधार नहीं हुआ है। आज भी दलित जनसंख्या का लगभग 62 प्रतिशत भाग अशिक्षित है, आधारभूत सुविधाओं से विहीन है और आज भी लगभग 70 प्रतिशत दलितों को समाज में अस्पृश्यता का दंश झेलना पड़ता है अर्थात् वैश्वीकरण ने अर्थव्यवस्थाओं को तो खोल दिया है लेकिन व्यक्तियों की बौद्धिकता के द्वार खोलने में यह असमर्थ रहा है। ऐसे में "सर्वजन हिताय, सर्व जन सुखाय" मात्र एक भ्रम है जिसे समझना होगा।

मुख्य बिन्दु – एकल विश्व व्यवस्था, संशयवादी, अतिवादी और परिवर्तनवादी दृष्टिकोण, प्रतिस्पर्धी बाजार व्यवस्था, अस्पृश्यता, जातिवाद, "मिस्टर गांधी एंड दि एमेन्सिपेशन ऑफ दि अनटलेबल्स।"

समसामयिक विश्व में वैश्वीकरण का विचार विसंगतियों के बावजूद आधुनिक राष्ट्र राज्यों के विकास की अनिवार्य शर्त बन गया है। इसने मानवीय जीवन के प्रायः हर पहलू को प्रभावित, करने की कोशिश की है। विश्व के लोगों एवं देशों की बढ़ती हुई पारस्परिक निर्भरता के संदर्भ में उद्भूत वैश्वीकरण के इस विचार ने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में परिवर्तन के एक नये युग की शुरुआत की है। वैश्वीकरण, उदारीकरण का एक तार्किक परिणाम है, इसे सूचना क्रांति, व्यवसायिक गतिविधि, वित्त, तकनीक, लेख एवं संस्कृति के संदर्भ में बढ़ती हुई अंतर संबद्धता के परिणाम के रूप में देख सकते हैं। वैश्वीकरण के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं—

1. विश्व समुदाय का एकीकरण।
2. वैश्विक पूँजीवाद को बढ़ावा देना।

चूँकि वैश्वीकरण के ढाँचे के अंतर्गत एक ही प्रारूप को सभी छोटे-बड़े एवं अमीर-गरीब राष्ट्रों पर थोप दिया गया है अतः सभी लोग और समाज इस प्रक्रिया के साथ अपना तालमेल नहीं बिठा पा रहे हैं। वैश्वीकरण की संरचनात्मक व्यवस्था एवं प्रक्रिया ऐसी है कि जिससे सभी को लाभ नहीं मिल पा रहा है।

सामान्य तौर पर वैश्वीकरण की संरचना एवं प्रक्रिया के प्रभाव को अंतर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह, बाजार शक्तियों की बढ़ती हुई भूमिका, वैश्विक अर्थव्यवस्था के स्वरूप को तय करने वाले तथा द्विपक्षीय संबंधों को प्रभावित करने वाली युक्ति इत्यादि के रूप में देखा जा सकता है। वैश्वीकरण आज एक वैश्विक परिचर्चा का विषय है इसके सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही पक्ष हैं। इसके समर्थक भी हैं, विरोधी भी जो भी हो राजनीतिक विश्लेषकों एवं अर्थशास्त्रियों के बीच वैश्वीकरण का मुद्दा एक व्यापक बहस का प्रश्न रहा है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने तमाम देशों की

अर्थव्यवस्था को गंभीर रूप से प्रभावित किया है इसने आर्थिक जीवन के साथ-साथ लोगों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को भी गंभीर रूप से प्रभावित किया है।

वैश्वीकरण ने समस्त विश्व के लोगों के जीवन को चहुँमुखी रूप से प्रभावित किया है, पहले वैश्वीकरण की संकल्पना को आर्थिक विश्लेषण के बढ़ते हुए वैश्विक महत्व, विश्व स्तर पर बढ़ते हुए आर्थिक गतिविधियों के क्षेत्र के रूप में परिभाषित किया जाता था, बाद में इसमें और भी कई पहलू अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार, दूरसंचार, वित्तीय सहयोग एवं समन्वय बहुराष्ट्रीय निगम, तकनीकी विकास, सांस्कृतिक सहयोग, अमीर एवं गरीब देशों के बीच अंतर्निर्भरता आदि शामिल हो गए। यद्यपि वैश्वीकरण का मुख्य जोर आर्थिक पहलू पर है लेकिन आज इसमें सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पहलू भी विशेष रूप से शामिल हो गए हैं।

वैश्वीकरण की संकल्पना की परिभाषा विश्व के विभिन्न राज्यों के ऐसे अंतर्संबंधों एवं अंतः-निर्भरताओं के संदर्भ में की जा सकती है जिसमें मानवीय जीवन के प्रायः सभी पहलू शामिल हो जाते हैं अतः वैचारिक दृष्टि से वैश्वीकरण का आशय आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के सहमिलन से है जिसके माध्यम से समान विश्व अधिकाधिक अंतर्संबंधित एवं आत्म निर्भर होता जा रहा है और जो एक "एकल विश्व व्यवस्था" की ओर प्रवृत्त है।

वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण का अर्थ है संपूर्ण भूमंडल का एकीकरण, यह अवधारणा आज संपूर्ण विश्व में चर्चा का विषय है क्योंकि यह दुनियाभर के समाज और अर्थव्यवस्थाओं में एकीकरण की बात करता है लेकिन क्या यह संभव है। एक ओर जहाँ राजनीतिक तनाव, शस्त्रीकरण शक्ति की राजनीति, राष्ट्रीय हितों में टकराव, आतंकवाद जैसी समस्याएँ वैश्विक समाज को

लगातार बांट रही है वहाँ अर्थव्यवस्थाओं का एकीकरण कितना और कहाँ तक सफल होगा यह विश्लेषण आज अत्यंत आवश्यक हो गया है। आदर्शवादी, वैश्वीकरण का समर्थन करते हुए इसे एक ऐसी व्यवस्था मानते हैं जिसमें अपने संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठकर होगा। “सब जन हिताय, सब जन सुखाय” के लिए एक होंगे लेकिन वास्तव में उदारीकरण के परिणामस्वरूप यह केवल बड़े राष्ट्रों की कूटनीति मात्र है। पूँजीवाद की मृत्यु की कामना करते हुए कार्ल मार्क्स ने 1848 में कम्यूनिस्ट घोषणा पत्र में लिखा था— “अपने उत्पादों के बाजार की तलाश बर्जुआ को पूरे भूमंडल में दौड़ती है इसे अपना नीड़ सर्वत्र बनाना है, इसे हर जगह बसना है, इसे अपना संबंध सर्वत्र फैलाना है।”

वैश्वीकरण के कारण वैश्विक बाजार में अर्थव्यवस्थाओं के बीच प्रतियोगिता और अन्योन्याश्रयता में वृद्धि हुई है, विभिन्न क्षेत्रों में विकास की नई-नई दिशाएँ विकसित हुई हैं, सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि, विदेशी पूँजी निवेश, औद्योगिकीकरण, सूचना प्रौद्योगिकी का विकास, तकनीकी तक पहुँच आदि अनेक लाभ गिनाए जाते हैं वहीं सामाजिक सोच में बदलाव, संस्कृतियों का सम्मिलन, जागरूकता, समाज के हर वर्ग तक पहुँच भी इस वैश्वीकरण के कारण विकसित हुआ है। यह माना जाता है कि यह सब लाभ केवल आर्थिक बदलाव के कारण संभव हुए हैं क्योंकि जैसे-जैसे पैसा आएगा वैसे-वैसे लोगों की जरूरतें और सोच में बदलाव होगा। लेकिन सतही हकीकत तो यह है कि वैश्वीकरण के कारण बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ विकासशील और अल्प विकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं में प्रवेश कर पहले प्रतियोगिता कायम करती है इस प्रतियोगिता की दौड़ में राष्ट्र नई-नई दिशाएँ विकसित करते हैं। इन नई दिशाओं में दौड़ने के लिए उन्हें पूँजी की आवश्यकता होती है जिसे वे विदेशी निवेश से प्राप्त करते हैं इस अंधाधुंध दौड़ में एक वर्ग तो पूँजी, तकनीक और सुविधाएँ प्राप्त करता जाता है लेकिन अन्य वर्ग, जिनकी स्थिति और जरूरतें अलग हैं उस दौड़ में अलग-थलग पड़ जाता है।

वैश्वीकरण की धारणा को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न रूप में अपने सैद्धांतिक ढाँचे के अंतर्गत परिभाषित किया है। इसे तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है— संशयवादी, अतिवादी एवं परिवर्तनवादी। संशयवादी दृष्टिकोण के समर्थक वैश्वीकरण की धारणा के सार्वभौमिकरण तथा उसे जरूरत से ज्यादा महत्व दिये जाने का विरोध करते हैं उनका तर्क है कि लोग क्षेत्र और संस्कृतियों के बीच पुरानी संबद्धता है। नई बात केवल यह है कि कम्यूटर एवं सूचना तकनीक का व्यापक विस्तार हुआ है, जिसने विश्व के बीच पारस्परिक गतिविधियों को बढ़ा दिया है और विश्व के बीच की दूरी को कम कर दिया है।

इसके विपरीत वैश्वीकरण की प्रक्रिया के अतिवादी दृष्टिकोण के समर्थकों का तर्क है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया वास्तविक एवं जरूरी है और यह द्रुत विकास एवं परिवर्तन के लिए आवश्यक है। इसका मानवीय जीवन के हर पहलू पर गहरा प्रभाव है इससे विश्व के देशों को एकजुट किया जा सकता है। वैश्वीकरण के समर्थक सीमाहीन विश्व की कल्पना करते हैं उनकी मान्यता है कि बढ़ती हुई आर्थिक गतिविधियों,

पारस्परिक विनिमय, सूचना प्रौद्योगिकी, विश्व पूँजी का बहाव आदि के कारण बड़े पैमाने पर विश्व राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक रूप से एकीकृत हो रहा है। इस वैश्वीकरण ने एक नये वैश्विक युग की धारणा का प्रतिपादन किया है जिसमें राज्य की स्वायत्ता कम हुई है और बाजारु शक्तियाँ अधिक महत्वपूर्ण हो गई हैं।

परिवर्तनकारी दृष्टिकोण के समर्थक उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों के बीच का मार्ग अपनाते हैं इनकी मान्यता है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया से जो मौलिक परिवर्तन हो रहे हैं उनकी जड़ प्राचीन काल में है अतः वे विभिन्न देशों के विभिन्न सामाजिक परंपराओं एवं संस्कृतियों के महत्व को स्वीकार करते हैं तथा उन्हें बनाए रखने पर भी बल देते हैं। यह सच है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप विभिन्न देशों में नये-नये परिवर्तन हो रहे हैं और नये-नये विकास के क्षेत्र विकसित हुए हैं किन्तु इन परिवर्तनों की भी सीमा होनी चाहिए। यदि एक मुक्त और गत्यात्मक प्रक्रिया के रूप में वैश्वीकरण किसी देश की सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन की बात करता है तो इन व्यवस्थाओं के मूल्यों, परंपराओं एवं रीति रिवाजों के प्रति वह सम्मान का भाव ही रखे।

उपर्युक्त तीनों दृष्टिकोणों के विश्लेषण के परिणामस्वरूप परिवर्तनकारी दृष्टिकोण ज्यादा संतुलित दिखाई देता है। यद्यपि आज सभी राष्ट्र वैश्वीकरण को अपना रहे हैं लेकिन इसके प्रति आशंकाएँ और अपेक्षाएँ भी हैं, विभिन्न वर्गों विशेषकर दलितों पर इसके प्रभाव का विश्लेषण महत्वपूर्ण है।

दलित हजारों वर्षों तक अस्पृश्य और शोषित समझी जाने वाली उन तमाम जातियों के लिए सामूहिक रूप से प्रयुक्त होता है जो भारतीय समाज व्यवस्था में सबसे निचले स्तर पर हैं। सामान्यतः समाज के दबे, शोषित हुए और आधारभूत सुविधाओं के अभाव में जीवन जी रहे ऐसे लोग जिन्हें उच्च वर्गों द्वारा छूना भी अधर्म समझा जाता है दलित कहलाते हैं। भारतीय संविधान में इन्हें अनुसूचित जाति कहा गया है। यूरोप में हुए पुर्नजागरण और ज्ञानोदय आंदोलन के बाद मानवीय मूल्यों का विकास हुआ और इससे मानव अधिकारों को कानूनी मान्यता प्राप्त हुई। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने सबसे पहले देश में दलितों के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों की पैरवी की और दलितों के लिए अलग प्रतिनिधित्व की मांग की। डॉ. अम्बेडकर ने “मिस्टर गांधी एड दि एमेन्सिपेशन ऑफ दि अनटलेबल्स” नामक पुस्तक में विश्व समुदाय को बताया था कि भारत में अछूतों की मुसीबतें विश्व के अन्यत्र नीग्रो और यहूदियों की मुसीबतों से कम कठिन नहीं हैं उन्होंने चाहा था कि साम्राज्यवाद और नस्लवाद से लड़ते समय विश्व के चिंतक अस्पृश्यता से लड़ना न भूल जाये। उनके इसी दबाव के कारण भारतीय संविधान के अनुच्छेद 17 में प्रावधान किया गया— अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निसिद्ध किया जाता है अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दंडनीय होगा। जहाँ तक संवैधानिक उपायों का रास्ता है उसमें डॉ. अम्बेडकर ने दलितों की हालत को अल्पसंख्यकों से भी खराब माना

था, उन्होंने अपनी पुस्तक "स्टेट्स एण्ड माइनोंरिटीज" में लिखा था, अनुसूचित जातियों की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक स्थिति अन्य नागरिकों और अल्पसंख्यकों की तुलना में इतनी खराब है कि उन्हें उस संरक्षण के अलावा, जिसे वे नागरिकों तथा अल्पसंख्यकों के नाते प्राप्त करेंगे, बहुसंख्यकों के अत्याचार और भेदभाव के विरुद्ध विशेष सुरक्षा उपायों की जरूरत होगी।" उन्होंने आगे लिखा कि, "अनुसूचित जातियों के लिए मेरी यह मांग औचित्यपूर्ण है कि इन्हें नागरिकों के मूल अधिकारों की समस्त सुविधाएँ, अल्पसंख्यकों के रक्षण संबंधी समस्त सुविधाएँ दी जाएँ और साथ ही उनके लिए विशेष सुरक्षा उपाय किये जायें।"

भारत में दलित जो सम्पूर्ण जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा तो है परन्तु ये दलित अति गरीबी रेखा के नीचे अपना जीवनयापन कर रहे हैं। वर्तमान में कुल जनसंख्या में से 16.5 प्रतिशत दलित है। लेकिन देश के कुल संसाधनों के मात्र 5 प्रतिशत पर ही दलितों का नियंत्रण है। इसमें से भी आधी से ज्यादा जनसंख्या निर्धनता रेखा के नीचे जीवन यापन कर रही है। दलित जनसंख्या का लगभग 62 प्रतिशत वर्ग अशिक्षित है और ज्यादातर कृषि कार्यों में संलग्न है लेकिन उनके पास स्वयं की कृषि भूमि का अभाव है जिस कारण वह बंधुआ मजदूरों के रूप में कार्य करने को विवश है। लगभग 90 प्रतिशत दलित के पास पीने के पानी, बिजली और शौचालय जैसी आधारभूत सुविधाएँ नहीं हैं। अभी भी ग्रामीण क्षेत्रों में 30 प्रतिशत दलित बच्चों को अलग बैठाया जाता है। 28 प्रतिशत दलित जनसंख्या ऐसी है जिनको स्वास्थ्य सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो पाती। 64 प्रतिशत जनसंख्या आज भी धार्मिक क्षेत्रों में प्रवेश नहीं कर सकती और 70 प्रतिशत जनसंख्या के साथ ग्रामीण क्षेत्रों में सर्वर्ण वर्ग दलितों के साथ भोजन करने में धर्म भ्रष्ट होने की बात कहते हैं।

दलित वर्ग में भारतीय समाज के वे लोग आते हैं जो सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़े रहे हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से सदियों से शोषित, दलित और प्रताड़ित रहे हैं। वैश्वीकरण की प्रक्रिया के प्रभाव से दलित भी मुक्त नहीं है। कहा जाता है कि वैश्वीकरण के युग में रोजगार के अवसर बढ़े हैं जिससे दलितों को लाभ हो सकता है लेकिन जहाँ की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रणाली दर उच्च जातियों का वर्चस्व रहा हो और जहाँ वर्ग व्यवस्था से उत्पन्न जाति व्यवस्था की प्रकृति शोषणकारी रही हो वहाँ दलितों की भलाई की बात खोखली लगती है। वैश्वीकरण के समर्थक तर्क देते हैं कि धर्म, जाति, वर्ग व लिंग संबंधी भेदभाव के बगैर परस्पर आर्थिक गतिविधियों एवं अंतःक्रियाओं से ना सिर्फ दलित एवं वंचित वर्ग मुख्यधारा से जुड़ पायेंगे बल्कि उनके बीच एक प्रकार की सामाजिक एकजुटता की भावना का विकास भी होगा।

दलितों के संदर्भ में इस तरह की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों का परिपेक्ष्य वास्तविकता से दूर की वस्तु मालूम होती है क्योंकि वैश्वीकरण की प्रक्रिया में रोजगार के अधिकाधिक अवसर के निर्माण की बात का फायदा दलितों को उनकी शैक्षणिक पिछड़ेपन के कारण नहीं हो पा रहा है दूसरा यह सच है कि शैक्षणिक दृष्टि से उन्नत दलितों को रोजगार मिल रहे

हैं किंतु वहाँ भी उन्हें भेदभाव का शिकार होना पड़ता है क्योंकि भारतीय समाज में आज भी जाति व्यवस्था के प्रभाव के कारण दलितों की स्थिति दीनहीन है। इस तरह वैश्वीकरण की संरचना एवं प्रक्रिया ऐसी है कि दलितों की स्थिति सुधार की बात संभव नहीं क्योंकि ये योग्यतम की उत्तरजीविता का युग है जिसमें सदियों से शोषित और प्रताड़ित रहे दलितों के लिए कोई जगह नहीं है।

वैश्वीकरण के कारण उत्पन्न असमान आर्थिक परिस्थितियों ने लोगों के जीवपन को गहराई से प्रभावित किया है। दलित उससे अछूते नहीं, वैश्वीकरण ने अमीर को और अमीर और गरीब को और गरीब बनाया है ऐसे में दलित आज भी हासिये पर है।

भारत में राज्य लोककल्याणकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों (आरक्षण नीति) के माध्यम से दलितों की असहाय दशा को सुधारने में प्रयत्नशील है जबकि वैश्वीकरण तो राज्यों की भूमिका को कम कर बाजारवाद को बढ़ावा देने की बात करता है। यह लोगों के सामाजिक, आर्थिक जीवन में राज्य के हस्ताक्षेप को कम करना चाहता है। स्पष्ट है कि वैश्वीकरण से दलितों की भलाई नहीं बल्कि हानि हो रही है। दलित शिक्षा के अभाव और हीन भावना से ग्रसित होने के कारण प्रतिस्पर्धी बाजार व्यवस्था में उन अवसरों को प्राप्त नहीं कर पा रहे जो आधुनिक वैश्विक जगत में आवश्यक है।

प्रश्न यह उठता है कि वैश्वीकरण का दलित वर्ग पर क्या प्रभाव रहा है, कोई भी व्यवस्था समाज को सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरीके से प्रभावित करती है। वैश्वीकरण ने भी भारतीय समाज के इस शोषित, पीड़ित वर्ग पर प्रभाव डाला है। यद्यपि भारतीय शासन सत्ता पर प्रारंभ से ही उच्च जातियों और पूँजीपतियों का नियंत्रण रहा है इसलिए दलित पीड़ितों को उत्थान के अवसर नहीं मिले, उच्च जातियों ने उन्हें हमेशा शोषित बनाए रखने के लिए दलित शब्द को अस्पृश्यता (छुआछूत) से जोड़ दिया उन्हें छूना, धार्मिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में उनका आना वर्जित कर दिया ताकि वे अपने विकास को संभव न बना सकें क्योंकि शैक्षणिक ज्ञान व्यक्ति को अधिकारों के प्रति जागरूक बनाता है। ऐसे में वैश्वीकरण क्या है और उसका इस दलित वर्ग पर क्या प्रभाव हो रहा है यह समझने में दलित असमर्थ है।

वैश्वीकरण होने से जहाँ विश्व के बीच की दूरियाँ कम हुईं सभ्यताएँ एक दूसरे से संपर्क में आईं तो दलितों में भी जागरूकता बढ़ी, उन्होंने अपने अधिकारों को पहचाना और अपने अस्तित्व एवं विकास के लिए लड़ना शुरू किया। यद्यपि यह लड़ाई नई नहीं है सभ्यता के प्रारंभ से ही शोषक और शोषित के बीच संघर्ष को और गहरा कर दिया है। उदारताकरण होने से उद्योग, सेवा, कृषि सभी क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का प्रवेश हुआ जिनका उद्देश्य भारतीय कृषक, दलित, श्रमिक को रोजगार देकर उनका विकास करना नहीं बल्कि कम कीमत पर अधिक लाभ अर्जित कर भारतीय बाजारों में अपनी पैठ बनाना था कहा जाता है कि वैश्वीकरण से रोजगार अवसरों में वृद्धि होगी लेकिन सूचना प्रौद्योगिकी के आने से रोजगार के क्षेत्र ही

सीमित हो गए हैं। एक ओर तो शिक्षा के अभाव के कारण दलित समाज में जैसे ही पिछड़े हैं ऊपर से वैश्वीकरण की मार ने दलितों के लिए आरक्षित नौकरियों को भी प्रायः नष्ट किया है। भूमंडलीकरण के अंतर्गत जो नए रोजगार सृजित हो रहे हैं वे दलितों की पहुंच से बाहर हैं।

हजारों सालों से दलित जातिवादी व्यवस्था का शिकार रहे हैं पर सवर्ण मानसिकता के कारण आज दलितों पर ही जातिवाद बढ़ाने का आरोप लगाया जा रहा है। जब तक दलित इस सवर्ण समाज के समक्ष चुप रहकर उनके अत्याचारों को सहते रहे तब तक यह कहा गया कि समाज में समरसता है लेकिन जब इन दलितों ने अधिकार की मांग की तो इन्हें विद्रोही कहा गया। विडम्बना तो यह है स्वतंत्रता के इतने सालों बाद भी, जहाँ हर मंच से मानवाधिकार, स्वतंत्रता, समानता की बात की जा रही है वही आज भी समाज में दलितों की स्थिति दयनीय बनी हुई है। उसका उदाहरण म.प्र. के भोपाल जिले की घटना है जहाँ सवर्ण समाज द्वारा अहिरवार समाज के लोगों से कहा गया नजर नीची करके चलो, चुल्लू से पानी पियो, औरते सजधज कर न निकले, अहिरवार समाज के लोगों की किसी ने कटिंग की तो जान से मार देंगे और अगर किसी ने शिकायत की तो घर जला देंगे।" लेकिन यह तो एक छोटी घटना है, दलितों को सजा देने के लिए निर्वास्त्र करना, पीटना, भूखे रखना आम बात है यहाँ तक कि हैदराबाद विश्वविद्यालय में रोहित बेमुला, एक दलित वर्ग का छात्र जो, ढेरों मुश्किलों के बाद उच्च शिक्षा तक पहुँचा था, कि सवर्ण द्वारा परेशान करने पर आत्महत्या कर लेना निश्चय ही वैश्वीकरण के इस दौर में शर्मनाक घटनाएँ हैं। इन विषम सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में फंसे 16 करोड़ से अधिक दलित अपने भविष्य को लेकर पहले भी चिंतित थे भूमंडलीकरण ने उनकी स्थिति और भी चिंतनीय बना दी है क्योंकि वैश्वीकरण ने विश्व को एक तो किया है लेकिन इससे मानवीय दृष्टिकोणों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, जातिवाद की समाप्ति नहीं हुई है, शोषण और अत्याचार खत्म नहीं हुए हैं ऐसे में "सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय" की अवधारणा भ्रामक प्रतीत होती है। बल्कि वैश्वीकरण ने आर्थिक विषमता,

भौतिकवाद, उपभोक्तावादी संस्कृति, सामाजिक वैमनस्य, आतंकवाद, अपराध आदि को बढ़ावा दिया है।

इस वैश्विक समाज में दलितों को अपने विकास के लिए न केवल आरक्षण की वैशाखी पर ही निर्भर रहना चाहिए बल्कि उन्हें स्वयं एकजुट होना चाहिए। व्यक्ति के सशक्त होने का सबसे महत्वपूर्ण हथियार शिक्षा है अतः दलितों को शैक्षणिक विकास पर बल देना चाहिए। भारत में निर्धनता का सबसे बड़ा संकट दलितों पर है, दलितों की निर्धनता केवल आर्थिक कारणों से न होकर इनकी सामाजिक अस्मिता या जाति व्यवस्था से जुड़ी है भारतीय समाज में प्रारंभ से ही दलितों को अस्पृश्य मानकर अशिक्षित रखा गया, यद्यपि स्वतंत्रता के बाद आरक्षण, छात्रवृत्ति, छात्रावास आदि अनेक प्रयास किए गए लेकिन इनके बावजूद दलितों में शिक्षा का पर्याप्त प्रसार न हो सका। आज भी शैक्षणिक संस्थाओं में उनके साथ दोहरा व्यवहार किया जाता है उसकी योग्यता को आरक्षण से जोड़कर उनका मानसिक शोषण किया जाता है क्योंकि सवर्णों की रूढ़िवादी सोच उन्हें अपने समकक्ष स्वीकार ही नहीं करती।

निश्चय ही जातिवाद के दंश में डूबे समाज में दलितों के समक्ष अनेक चुनौतियाँ हैं, वैश्वीकरण उनके लिए वरदान नहीं बल्कि चुनौति बनकर ही आया है लेकिन लोकतंत्रात्मकता का सबसे अच्छा गुण है अभिव्यक्ति एवं विकास की स्वतंत्रता। अतः दलितों के पास भी अब अवसर है कि वे केवल एकजुट होकर आंदोलन करने के साथ ही वैश्विक समाज में अपनी स्थिति सुधारने के प्रयास करें इसके लिए इन्हें स्वयं अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाना होगा, थोपी गई अस्पृश्यता को नियति न मानकर अपने अधिकारों के लिए लड़ना होगा, सक्रिय सहभागिता के माध्यम से विश्व में अपनी भूमिका को परिभाषित करना होगा। भारत एक ऐसा राष्ट्र है जिसके बड़े सामाजिक बदलाव में इसकी तीव्र आर्थिक वृद्धि का अहम योगदान है। भारत ने निर्धनता दर दिनप्रतिदिन कम हो रही परन्तु अमीर एवं गरीबों के बीच का अन्तर लगातार बढ़ रहा है।

संदर्भ सूची –

1. भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, सच्चिदानंद सिन्हा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2016,
2. दलित समाज : पुरानी समस्याएँ, नई आकांक्षाएँ (एक समाज शास्त्रीय अवलोकन), डॉ. विवेक कुमार, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
3. मानव अधिकारों का संघर्ष, राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1995,
4. डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : राइटिंग्स एंड स्पीचेज, वॉल्यूम 1, एजुकेशन डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र, प्रथम संस्करण 1991, पृ. 197-98
5. भारत का संविधान, तीसरा संस्करण, 1991, पृ. 6
6. बाबा साहब आम्बेडकर : सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड 2, डॉ. आम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 1993, पृ. 167-170